Turkish Online Journal of Qualitative Inquiry (TOJQI)
Volume 11, Issue 2, June 2020: 914-918
DOI: 10.53555/tojqi.v11i2.10682

Research Article

Stri Chetna: From Swanbhuti to Sahanubhuti – The Evolution of Women's Consciousness

स्त्री–चेतना : स्वानुभूति बनाम सहानुभूति

डॉ.–मीना शर्मा'

सत्य क्या है? चते ना क्या है? सत्य स्त्रीलिंग है अथवा पुलिंग या उभयलिंग? चते ना स्त्री की है? चते ना पुरुष की है? अथचा

चते ना मनुष्य मात्र की (मानवीय) है? सत्य भक्ति का होता है? सत्य रचयिता का हाते ा है? सत्य पाठक का होता है? सत्य सार्वभौम होता है अथवा सत्य विशिष्ट होता है? या सत्य इनमें स` कोई भी नही ं होता है? या सत्य समन्वित निर्मिति है। ऐस` अनगिनत प्रश्नों की वर्षा होन` लगती है जब हम सत्य का` खंगालना शुरू करते हे ं और सत्य का` खंगालाना भी जरूरी है, क्योंकि इसी स` जुड़ा है अनुभूति का सत्य। अपनी अनुभूति (स्वानुभूति) सत्य है अथवा अनुभूति–सामर्थ्य के सहारे दूसर` की अनुभूति तक पहुंचकर सत्य का साक्षात्कार करना यानी सह–अनुभूति, समान अनुभूति के सत्य का` उपलब्ध करना सत्य है। दूसरे शब्दों में क्या सह सह–अनुभूति (सहानुभूति) सत्य है? ये इतने सार` सवाल क्यों? तो उत्तर यह है कि सत्य की उपलब्धि का दावा सभी करते हे ं और प्रत्येक दावा करने वाला अपने सत्य का` परम–सत्य और अन्तिम–सत्य मानने लगता है, परम ब्रह्म की तरह। और फिर इस परमब्रह्म का परमज्ञानी दूसर` के सत्य का` अंतिम सत्य भी नहीं मानता। तो फिर निर्णय कैस` हो? झगड़ा और विवाद की जड़ यही यहै कि मेरा सत्य और तेरा सत्य, मेरी अनुभूति और तेरी अनुभूति, स्वानुभूति और सहानुभूति, रचनाकार और भावे ता का सत्य, स्त्री लखे ाक का सत्य और लेखक का सत्य।

इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि सत्य क्या है, वह महत्त्वपूर्ण नही ं है, सत्य का` कौन देख रहा है, यह महत्त्वपूर्ण है। किस चश्में स ` सत्य का` देखा जा रहा है, वह चश्मा सत्य का` निर्धारित करता है। आदमी की निगाह मे ं औरत का सत्य बनाम औरत की निगाह में औरत का सत्य, दोनों सत्य मे ं से किसका सत्य मान्य और किसका सत्य अमान्य हो, यह कौन तय करेगा, आदमी या औरत? पुरुष लखे ाक होकर भी पहल` पुरुष है तो वहीं स्त्री लखे ाक होकर भी पहले वह स्त्री है, तो क्या अपने–अपने पूर्वाग्रह के साथ इस सत्योपलब्धि की प्रक्रिया मे ं अनायास अथवा सायास चले आते हे ं और इस कारण सामने वाल` के सत्य का` लिंग भेद, स्थिति भेद, अनुभूति भेद, अनुभव भेद के आधार पर हम स्वीकार नही ं करते हे ं अथवा महजीह नही ं देते हैं। दोनां एक दूसर` पर आरोप–प्रत्यारोप लगाने लगते हैं, एक दूसरे के सत्य को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने के तर्क रखत` हैं, उसका लॉजिकल फार्मूला स्त्री के अलग प्रजाति हाने` के आधार पर देत` है–

'हर स्त्री मनुष्य है– किन्तु हर मनुष्य स्त्री नही। ' इस तर्क का` थाडे ा और बारीक करते हे ं कि हर मनुष्य तो क्या, काई भी स्त्री मनुष्य नही ं होती। अगर स्त्री मनुष्य होती तो उसकी मानव सत्ता अक्षुण्ण रहती, उसकी जैविक सत्ता के साथ–साथ। किन्तु स्त्री की मानव सत्ता की सर्वस्वीकार्यता कारिता होती तो फिर उस` उपनिवेश की श्रणे ी मे ं

क्यो ं रख्ता, उसे परजीवी क्यो ं मानते, उसका दोयम दर्जा क्यो ं मानते? उसे वस्तु 'अन्या' आदि की श्रेणी मे ं क्यों रखते? निम्नलिखित कथन का` पढ़कर तो इसी तथ्य की पुष्टि हाते ी है– "दरअसल भारतीय समाज मे ं औरत और दलित दोनों ही परजीवी है। दोनों अपने जन्म के कारण ही भेदभावपूर्ण व्यवहार के शिकार होत` है। दलितों के साथ जन्म–परक भेदभाव, एक वर्गीय व्यवस्था, ऊँची–नीच मालिक–गुलाम, विजेता–विजित आदि एक राजनीतिक साजिश का परिणाम है जा` मनु की आचार–संहिता पर आधारित सामन्ती/वर्ण–व्यवस्था के कारण घटित हउु ा है। यह केवल भारत मे ं ही है। औरत के साथ यह भेदभाव उसके स्त्री होने के कारण होता है, चाहे वह ऊंचे वर्ग की हो या निम्न–सर्वहारा वर्ग की, यानी गरीब हो या अमीर, गारे ी या पीली अथवा काली या किसी भी रंग की हो, चपटी नाकवाली हो या चपटे माथ` वाली या तीखी रोमन नाक वाली– हिंदू हो या मुसलमान, ईसाई हो या यहूदी, पूरब की हो या पश्चिमी की। स्त्री जाति मे ं जन्म लने` वाली यानी स्त्री प्रजाति की होन` के कारण ही उस ` विश्व भर मे ं दोयम दजा ं ही दिया जाता रहा है। औरत, औरत होन` के कारण यदि कमतर है तो एक बात है, ऊपर से यदि यह दलित जाति स` ताल्लुक रखती है, उससे भी बड़ी बात, साथ ही यदि वह गरीब भी हो तो फिर तो वह उपनिवेश–द–उपनिवेश के चक्रव्यूह मे ं फंसी स्त्री हुई। यानी लिंग, जाति, वर्ग जैसी भिन्न स्थितियों मे ं जाने वाली स्त्रियों का` क्या पितृसत्ता एक ही प्रकार की प्रकटित करेगी? ऊपर से यदि वह स्त्री पिछड़ी जाति की निरक्षर, बेसहारा स्त्री हुई तब क्या होगा? शायद गावं का काई दबंग डायन, चुड़ैल बताकर निर्वस्त्र करके गावं मे ं घुमाए अथवा बलात्कार आदि घटना का` अजं ाम देकर, काटकर नदी मे ं बहा दे, तो क्या उस स्त्री की स्वानुभूति का` उसी लिगं की काइं महानगरीय सभ्रांत उच्च जाति की महिला 2000 किमी दूर वातानुकूलित कक्ष मे ं बैठकर अपनी अनुभूति को उस पीड़ित महिला की अनुभूति के साथ समरूप कर सकती है? या फिर सिर्फ अपनी तरफ से सहानुभूति ही व्यक्त कर सकती है। यानी एक महिला एक का ही सत्य (स्वानुभूति) दूसरी महिला का सत्य (सहानुभूति) नही ं बन पाता, तो ऐसी स्थिति मतें फिर काइं पुरुष उस पीड़ित महिला के दर्द की अनुभूति बयान करे ं तो वह अकेला 'हाऊटसाइडर' कैसे? यह पुरुष भी तो उस पीड़ित महिला के साथ सहानुभूति ही तो व्यक्त करता है दूसरी स्त्री महिला लखे ाक के समान। क्या सिर्फ लिंग एक होन` स` अनुभूति भी एक हो जाती है? सत्य भी एक हो जाता है? एक की स्वानुभूति दूसर` की स्वानुभूति हो पाती है क्यों? अतएव जब स्त्री विमर्श की बात आती है तो पुरुष लखे ाक बाहरी कैसे? और स्त्री लखे ाक ही हमेशा, हर स्थिति में अन्तरंग कैसे? फिर एक स्त्री भी पुरुष के चश्मे से स्त्री के सत्य का` देख सकती/देखती है। यही बात दलित विमर्श के सन्दर्भ

मे ं भी उठता है 'स्वानुभूति और सहानुभूति' का मसला वहा ं भी है, किन्तु दलितों मे ं 'एलीट' वहां भी है, जा े उससे अपनी वर्गीय हैसियत के कारण उतना ही दूसरी बनाकर रखता है जैस े वर्णव्यवस्था मे ं एक सवर्ण
व्यक्ति किसी अवर्ण व्यक्ति के साथ रखता था। वह 'एलीट' उस गरीब के साथ खान–पान, उठ–बैठ, विवाह–रिश्ते, आना–जाना आदि मामलों में उसकी तरफ हिकारत भरी नजरों स े देखता है। साथ ही दलितों के भीतर भी जाति–व्यवस्था उतनी ही कठोर, (क्रूर नहीं क्योंकि यहाँ जान लने े वाला मसला नही ं है।) नियम का पालन कर अपनी विशिष्टता, पृथकता का े बनाए रखना चाहता है। तो फिर क्या यह एलीट दलित व्यक्ति उस गरीब व्यक्ति के अन्तःकरण का साक्षात्कार उस स्वानुभूति की तीव्रता और गहराई के साथ कर पाएगा जैसा कि वह गरीब दलित व्यक्ति करता है। तो फिर यह एलीट व्यक्ति यदि लेखक बनकर उस पर लिखन े की पात्रता रखने वाला इन 'साइडर' है अथवा 'आउट साइडर'? स्वानुभूति बनाम आत्मानुभूति का सवाल तो वहाँ भी उठना चाहिए। सिर्फ यह कहना कि सभी दलित एक हैं, दलित–दलित एक हैं, सभी दलित की स्थिति, सत्य, वेदना, अनुभूति एक है, स्वानुभूति एक है(?) कहकर इस सवाल स े कन्नी नही ं काटा जा सकता। यानी जब भिन्न अभिव्यक्ति मे ं पूर्ण सक्षम अथवा समरूप जीवनानुभव न रखन े के कारण, सौ फीसदी उपयुक्त लखे ाकीय पात्र नही ं है, वह भी (एलीट) उसके (गरीब दलित) लिए उतना ही 'हाउट साइडर' बाहरी व्यक्ति है, जितना कि सवर्ण लेखक उस गरीब दलित के लिए होगा। भिन्न स्थिति में रहने के कारण एवं जाति विशेष होने के कारण ही किसी भी सहानुभूति स्वानुभूति नही ं बन सकती। स्वानुभूति और सहानुभूति के झगड़ े मे ं सत्य स े ज्यादा राजनीति
ज्यादा काम करती है।

वास्तव मे ं स्त्री विषय हो या दलित विषय, दोनों की विमर्श मे ं जाति, पितृसत्ता, वर्ण–व्यवस्था के प्रश्नों स े काटकर, उनकी भिन्न स्थिति, सन्दर्भ मे ं विच्छिन्न कर देखना सत्य का औसतीकरण होगा क्योंकि–

"स्त्रीवाद की मुख्य चिं ता, आज की पितृसत्ता ही है। लेकिन क्या पितृसत्ता प्रत्येक देश और प्रत्येक काल मे ं एक जैसी है?... वह एक जैसी नही ं होती। एक ही समय और एक ही समाज मे ं भी वह एक जैसी नही ं हाते ी। उदाहरण के लिए हम आज के अपने भारतीय समाज मे ं देखें, तो क्या उच्च या उच्च मध्यवर्गीय, शिक्षित और कामकाजी स्त्रियों की स्थिति निम्न या निम्न मध्यवर्गीय, अशिक्षित और घरेल ू स्त्रियों से भिन्न नही ं है? शहरी और देहाती स्त्रियों की, धनी और निर्धन परिवारां े की, ऊँची जातियों और नीची जातियों की स्थिति भिन्न नही ं है? क्या ऐसी तमाम स्थिति भिन्न नहीं है? क्या ऐसी तमाम भिन्न स्थितियों मे ं जीने वाली स्त्रियों को पितृसत्ता एक ही प्रकार स े प्रभावित करती है? यदि वह सब स्त्रियों का े एक ही प्रकार स े प्रभावित नही ं करती, तो क्या आज के स्त्रीवाद के पितृसत्ता विराधे ी सघं र्ष तक ही सीमित रहना चाहिए? क्या उस े वर्ण और जाति के प्रश्नों स े नही ं जाडे ़ना चाहिए?" अतएव वर्ण और जाति की असमानताओ ं स े सत्य निरपेक्ष नही ं है। स्त्री की चते ना इनके सापक्षे ा में ही मूल्य अर्थ और दिशा पाती है। वर्ण–व्यवस्था भी असमानता का एक ढाँचा है ,किन्तु वह वर्ग और जाति के सत्य स े मुक्त नही ं है। वर्ग और जाति की असमानता का एक ढाँचा है, किन्तु वह वर्ग और जाति के सत्य से मुक्त नही ं है। वर्ग और जाति की असमानताओ ं का े भूलकर उनकी आंतरिक विसगं ति को छोड़कर अगर हम यह साचे ें कि केवल वर्ण–व्यवस्था का विरोध करके या उखाड़ फेकं ने से हम सब तरह की असमानताओ ं से या दलितों के साथ होने वाल े अत्याचार, भेदभाव स े हम मुक्त हो जाएंगी, या स्त्री वर्ग, जाति की असमानताओं का े भूलकर पितृसत्तात्मक व्यवस्था का े उखाड़ फेगं ेगी, तो यह एक भ्रामक धारणा होगी। एक समतामूलक मानवीय समाज के निर्माण मे ं सभी विघ्न–बाधाओं तत्वो ं की पहचान करक े ही इस लड़ाई का े निर्णायक मोड़ एवं दिशा दी जा सकती है। अन्यथा इतिहास गवाह है कि इन तथ्यों का े भुलाकर आंतरिक विसगं तियों को भुलाकर जल्दबाजी मतें कई देशां े में की गई क्रांतियां कालांतर मे ं ऐसा अभिशाप बन जाती है ं कि उस े मिटाने के लिए एक और क्रांति करनी पड़ती है, फिर एक और, और यह क्रम निरंतर चलता रहता है। वहा ं के समाजों मे ं आंतरिक अशांति, उपद्रव, गृह–क्लशे ा, आपातकाल जैसी स्थितियाँ, और घटनाएं अक्सर देखे जा सकते है।ं शायद इन्हीं आंतरिक विसगं तियों और अन्विति के अभाव मे ं ही इतिहास का े फिर स े अपना इतिहास दोहराना पड़ता है। इतिहास दोहरान े का भी इतिहास रहा है। वास्तविकता यह यहै कि केवल पितृसत्ता के कारण ही स्त्रियों का दमन और उत्पीड़न नही ं होता बल्कि वर्ग ओर जाति के आधार पर भी स्त्रियाँ उसका शिकार होती है।ं इस तरह की खबरे ं अक्सर देखने–सुनने का े मिलती है।ं एक दिलचस्प उदाहरण मार्क्सवाद का ही है जो समतामूलक मानवीय व्यवस्था के दर्शन के साथ सपं ूर्ण विश्व मे ं निकला था, इस धारणा के साथ कि समाज मे ं वर्ग–भेद एक बार मिटा तो जाति–भदे और स्त्री–पुरुष भेद स्वतः चला जाएगा। किन्तु तमाम क्रांतियों के बाद भी पूरे विश्व मे ं पितृसत्ता बनी रही। जहाँ साम्यवादी शासन था वहाँ की स्त्रियाँ यह कहते हुए सुनी जा सकती थीं कि–

"मेरा पति, जा े बाहर कॉमरेड है घर मे ं मुझे क्यो ं पीटता है?"

स्त्री चते ना का े स्वानुभूति या सहानुभूति के सन्दर्भ मे ं एक बार महिला का विषय की भी है। यह यह कि जब टी.एस. इलियट (T.S. Elliot) कहते है ं कि रचनाकार और भोक्ता मे ं अन्तर होता है, जितना बड़ा अन्तर होगा, उतना बड़ा बदलाव होगा और इसका सीधा अर्थ यही होता है कि रचनागत सत्य/काव्यगत सत्य और व्यक्तिगत सत्य दो अलग सत्य है।ं रचना प्रक्रिया मे ं जब तक रचने वाला निर्धेयक्ति नहीं हो पाता, तब तक वह कलाकार नही ं बन पाता। स्वानुभूति के आधार पर व्यक्तिगत या आत्मगत सत्य और तथ्य का े सीधे एवं सपाट ढंग स े प्रस्तुत करने पर साहित्य, साहित्य न रहकर रिपोर्टिंग रह जाएगा। साहित्य सचू ना, तथ्य या समाचार बन जाएगा और सचू ना अथवा समाचार साहित्य नही ं होता। इस कसौटी पर महान साहित्य का मूल्यांकन करना भी सभ्ं ाव नही ं होगा, मसलन स्वानुभूति के आधार पर कामायनी मे ं जयशकं र प्रसाद का जीवन खाजे ना, रामायण मे ं तुलसीदास अथवा वाल्मीकि का कहाँ है? या साकेत के अनदर मैथिली शरण गुप्त का स्वानुभतू सत्य या व्यक्तिगत सत्य कहाँ और कितना है? गादे ान मे ं प्रेमचन्द का जीवन कितना है, गादे ान मे ं हारे ी का सत्य क्या प्रेमचदं का सत्य है या प्रेमचदं का सत्य क्या होरी का सत्य है? दोनों मे ं किसी स्वानुभूति और किसकी सहानुभूति है? पछाड़ खाकर गिरते होरी की त्रासदी सिर्फ होरी की
त्रासदी है या भारत के आम किसान की त्रासदी है या प्रेमचदं की त्रासदी है? अतएव स्वानुभूति और सहानुभूति की कसौटी पर साहित्य के मूल्याकं न मे ं अत्यधिक सचेत होन े की आवश्यकता है। फार्मूलाबद्ध तरीके स े न तो साहित्य का सृजन हो सकता है, न मूल्याकं न और न ही पाठन। सृजन–प्रक्रिया, आलोचना–प्रक्रिया और पाठकीय प्रक्रिया मे ं अनुभूति कई स्तरो ं पर सक्रं मित होती है, अनुभूति के पैटर्न में बदलाव दिखाई पड़ता है। यदि गादे ान में पछाड़ खाकर गिरते होती की त्रासदी प्रेमचन्द का सहानुभूति–सत्य है, तब भी वह महान रचनागत–सत्य है जा े मानवीय सवं ेदना का े झकृं त करता है। साहित्य की परकाया प्रवेश

की भूमिका वहाँ देखी जा सकती है। वास्तव मे ं कला का सत्य स्वानुभति सत्य और सहानुभूत सत्य स े बड़ा होता है। रचना–विवेक के आधार पर कला का जोखिम लेना पड़ता है। प्रगतिवाद के दौर मे ं किसान और मजदूरो ं के सत्य को दिखाने की हडब़ ड़ी मे ं साहित्य पोस्टर, नारों मे ं तब्दील हा े जाता है। रचनात्मकता, कलात्मकता धूमिल हो जाती है। ऐसा लगता है कि जैस े 'फटा पोस्टर निकला साहित्यकार' का जुमना चरितार्थ हो रहा हो। इसलिए स्वानुभूति और सहानुभूति के आधार पर सत्य शाधे ान की कसौटी यही होनी चाहिए कि वह कितना और कहां तक मानवीय सत्य की प्रतिष्ठा करते हुए व्यक्ति की आंतरिकता का साक्षात्कार कर पा रहा है अथवा नही। आखिर मे ं 'मानुष–सत्य' की खाजे और प्रतिष्ठा ही तो कला व्यापार है और कला–व्यापार मानवीय–व्यापार है, भाव–व्यापार है। इस सत्य के आलोक मे ं साहित्यिक कृतियों का मूल्याकं न, आस्वादन किया जाना चाहिए, फिर यह फर्क नही ं पड़ता कि उस े कौन लिख रहा है, किसके चश्मे स े देखा गया है, पुरुष लख्े ाक द्वारा अथवा स्त्री लख्े ाक के द्वारा। बस सिर्फ यह देखना चाहिए कि उसमें मानवीय सत्य का े पकड़न े की तड़प है या नहीं, मनुष्य की आंतरिकता का साक्षात्कार हुआ या नहीं, अनुभूति की गहराई और समग्रता का स्पर्श है या नही। लख्े ाकीय सवं ेदना क्या पाठकीय सवं ेदना मे ं रूपांतरित हो रही है या नहीं। भाव–विभाजन के साथ अर्थ–विभाजन अथवा कला–विभाजन हो रहा है अथवा नहीं। अन्यथा अपने–अपने पूर्वाग्रह तो सभी के हाते े हैं, पुरुष के भी और स्त्री के भी। किन्तु साहित्य पूर्वाग्रह स े परे है, पूर्वानुमान स े परे है। अन्यथा पाठक ज्योतिष हो जाएगा कि अमुक लेखक ने इस किताब मे ंये लिखा होगा। यह ऐसा लिखती है, यह वैसा लिखता है। आप 'टाइप्ड; हो जाते है। रूढ़ हो जाते हैं, जा े एक कलाकार के लिए खतरनाक सकं ेत है। कलाकार के ठहराव का सकं ेत है, कला तब तालाब के पानी की तरह सिमट जाती है, ठहर जाती है तो उसमें सडं ाध पैदा होन े लगती है। जबकि कला एक महान और विराट चीज़ है, मधुर सगं ीत है, निर्झर झरने का सगं ीत है। पक्षियो ं का कलरव है, आत्मा की पुकार है, सवं ेदना का सत्य है, सत्य का सगं ीत है, मानवीय आत्मा का साक्षात्कार है। और इस मानवीय सत्य का े उपलब्ध करने की तड़प, व्याकुलता और ईमानदारी जिस साहित्य में साहित्यक सत्य ही कला सत्य है, महान सत्य है। चाहे वह स्वानुभूति के रास्ते आए अथवा सहानुभूति के रास्ते, काइे र् फर्क नही ं पड़ता है। बस यह देखना है कि उसमें कला–विवेक, मानवीय सवं ेदन, मानुष सत्य की प्रतिष्ठा की तड़प, गहराई, सच्चाई और ईमानदारी कितनी है। वह हमारे भाव–संवदे न का े झंकृत करने मे ं सफल है या नही। मनुष्य सत्य का े छ ू पाया है या नहीं, मनुष्य की .... के दर्शन कर पाया है

या नही। या फिर वह सिर्फ फार्मूलाबद्ध तरीके स े सत्य के नाम पर साहित्यिक रिपोर्टिंग है, सत्य की मार्केटिंग है अथवा विमर्श के नाम पर फैशन। इसका फैसला तो पाठक ही करेगा। समय और इतिहास करेगा कि इतिहस के पन्नो ं के भीतर वर्षों रहने के बाद भी उसमे ं मानवीय भाव–संवदे न का े झकृं त करने की क्षमता अब भी है या नही। जैस े कि प्रेमचन्द के 'गादे ान' का पछाड. खाता हुआ होरी करता है। महादवे ी वर्मा के साहित्य के मूल्यांकन के समय सिर्फ यह नहीं देखा जाना चाहिए कि वे एक स्त्री भर है ं बल्कि यह भी कि उनके पास कला है, कला–विवेक भी है, जा े मानवीय भावों के प्रसारण एवं सचं रण मे ं समर्थ है। मानवीय भावभूमि पर अवस्थित है। मनुष्य की आंतरिकता की प्रतिष्ठा और साक्षात्कार कराने की उसमे ं क्षमता है। जीवन–प्रसंगों की सत्ता है उसमें। मानवीय भावों की प्राण–प्रतिष्ठा की तड़प है उसमें। विशेषकर महादवे ी के संस्मरण साहित्य मे ं ऐस े ही जीवन मूर्तियों का े महादवे ी ने गढ़ा ह े जा े अमानवीय परिस्थितियों एवं अनुभव के सघात एवं शिकंजे मे ं जकड़ े होने के बावजूद भी मानवीय भावों से स्पंदित है, आलोकित है। जिनके साथ रचनाकार ही नहीं बलिक पाठक की भी सहानुभूति एवं सवं ेदना सहज रूप स े जुड़ जाती है प्रेमचन्द और प्रेमचदं के पात्रो ं की तरह ही क्यों? "क्योंकि प्रेमचंद ने बड़ी कड़ाई स े कला और उसके नियमो ं को जीवन प्रसंगों के साथ संबद्ध किया है।"

स्पष्ट है कि कला–विवेक के साथ मानवीय भाव और साहित्यिक भावो ं का परस्पर गुफन से कला का सौदं र्य निखरकर और उभरकर आया है। साहित्यिक प्रसंगो ं का े जीवन–प्रसंगों स े जाडे ़कर ही मानवीय भावों को प्रकटीकरण करते है। ऐतिहासिक परिस्थितियों ओर सस्ं थाओ ं के शिकंजे मे ं जकड़ े हुए आदमी की पीड़ा, दासता, यंत्रणा, करुणा और विकृति की कथा कहते हैं, मानवीय भावों की खुशबू, मानवीय भावों का सस्ं पर्श हमार े मर्म को छ ू पाता है। अतः ठीक उसी पैटर्न पर आज के स्त्री–विमशर् का े मानवीय भाव–भूमि पर प्रतिष्ठान के साथ–साथ कला–विवेक एवं जीवन प्रसगो ं का नियोजन करना चाहिए। ऐतिहासिक परिस्थितियों, अनुभवो ं एवं सस्ं थाओं की कैद मे ं जकड़ी हुई स्त्री की मार्मिक कथा को मानवीय धरातल पर मानवीय मूल्यों एवं मानवीय अनुभूति के साथ कहनी चाहिए। उस कथा में निर्विशेष मनुष्य हो, स्त्री अथवा पुरुष की पृथक श्रणे ी, पृथक स्वानुभूति और सहानुभूति न हो। नर–नारी के झगड़े में मानवीय भाव हाथ से फिसल जाएगा।

ऐकान्तिक पुरुष और एकान्तिक स्त्री स े कला की समग्रता एवं अखंड कला खंडित हो जाएगी। पुरुषो ं की दुनिया स े स्त्री का े और स्त्री के दुनिया से पुरुष का े अलग कर दिया गया तो साहित्य की दुनिया ही वीरान हो जाएगी। नर–नारी के प्रश्नो ं के वचस्व और अधीनस्थ, श्रेष्ठ ओर निकृष्ट, आउट साइडर और इन साइडर के खानों मे ं बाँटकर, अलग–अलग ज़मीन पर नही ं खड़ा करना चाहिए बल्कि यह बराबरी और मानवीय भाव भूमि पर ही वह अपना अर्थ, मूल्य और सत्य पा सकता है। ऐस े में मुझ े तुलसी की कविता की एक पंक्ति का सहज स्मरण हा े रहा है–

"सिया राम–मय सब जग जानी।"

तुलसी यदि ससं ार का े सियाराम–मय रूप मे ं जानते है ं तो हमें भी साहित्य के ससं ार का रूप भी स्त्री–पुरुष के समभाव, युगल सहकार एवं निर्विशेष मनुष्य के रूप मे ं जानना चाहिए। तुलसी मे ं हमें नर–नारी के सम–स्नेह की ज्योति मिल सकती है। राम मनोहर लोहिया लिखते हैं–

"सारे ससं ार की नारी–हृदय की चीख है– "कत विधिसृजी नारी जग माहीं, पराधीन सपनेह ू सुख नाहीं।" गज़ब है तुलसी। क्या ममता, क्या नारी हृदय की चीख, क्या नर–नारी आदर्श जीवन की सचू ना। आखिर उसन े ससं ार का े किस रूप मे ं जाना है, सियाराम–मय सब जग जानी।... नर और नारी का स्नेहमय सबं ंध बराबरी की नीवं पर हो सकता है। ऐसा सबंध काइे र् समाज अभी तक नहीं जान पाया।"

स्त्री–विमर्श पितृसत्तात्मक व्यवस्था का विराधे ा करते–करते पुरुष का ही निषधे ा तक करने लगती है। काश! तुलसी स े हम नर–नारी स्नेह–सबं ंध, सम–स्नेह की ज्योति ल े पाते (जिस तरह हम उनकी खटकरने वाली बात को पकड़कर बैठे रहते है।) तो यह स्त्री–विमर्श का एक आदर्श भारतीय सस्ं करण हो सकता है। तब हम कहते– 'स्त्री पुरुषमय सब साहित्य जानी'। किन्तु हमे ं देशी चीज़ पसंद कहां! देशी चिंतन परंपरा स े स्त्री–विमर्श का एक भारतीय सस्ं करण तैयार करने मे ं दिशा मिलती, परन्तु

हमे ं तो 'इम्पाटे ेंड' (Imported) चीज़ पसंद है और उस े ही हम इम्पोर्टेन्ट (Importent) समझते है ं। इस कारण स्त्री–विमर्श का े पश्चिमी भूमि पर प्रतिष्ठित करते हुए स्त्री के पश्चिमी सस्ं करण का े भारतीय सस्ं करण बनाने के लिए उतावल े दिखाई पड़ते हैं। क्या यह औपनिवेशिक मानसिक गुलामी नही ं है। एक गुलामी से लड़ने के लिए दूसरी गुलामी को स्वीकार कर देना क्या तर्क संगत है? क्या मुक्ति का प्रयत्न इस औपनिवेशिक मानसिक गुलामी के खिलाफ नही ं होनी चाहिए। साथ ही भारत की स्त्री का अपना एक यथार्थ है, उसे भारतीय सदं र्भों, भारतीय परिस्थितियों के आलोक मे ं ही बेहतर तरीक े स े समझा जा सकता है। जबकि पश्चिमी स्त्री का अलग यथार्थ और सदं र्भ है। यही भूल मार्क्सवादियों ने एक जमाने मे ं की थी, जब मार्क्सवाद का 'ग्लाबे ल

एडीशन' (Global Edition) भारत मे ं उतार दिया। भारत की आंतरिक सरं चनाओं और परंपराओं की जटिलताओं का े समझ े बगैर। इसी कारण उन्हें

यहाँ नाकामयाबी हाथ लगी।

स्त्री और पुरुष के बीच समानता और बराबरी की समज्योति, स्नेहज्योति के प्रकाश का े देखकर एक बार लोहिया जी ने कहा था– "यदि गाँधीजी आज जिन्दा होत े तो मैं उनसे कहता कि आप रामराज की बात न करे ं। यह अच्छा नहीं है। इसलिए मैं 'सीतारामराज' की बात कहता हूँ। यदि 'सीतारामराज' कायम करने की बात देश के घर–घर मे ं पहुंच जाए, तो औरत मर्द के आपसी झगड़े हमेशा के लिए खत्म हो जाएंगे और तब उनके आपसी रिश्ते भी अच्छे होंगे।" वास्तव मे ं स्वानुभूति और सहानुभूति की दो श्रेणियाँ 'आउटसाइडर' और 'इन साइडर' की राजनीति के तहत बनाई गई है। 'बहिष्कृत और शामिल' की नीति के अन्तर्गत स्त्री की अनुभूति 'स्वानुभति' है और पुरुष की अनुभूति सहानुभूति है, अतः स्त्री विमर्श की दुनिया मे ं पुरुष 'आउटसाइडर' है स्त्री 'इनसाइडर; है स्त्री की दुनिया स े पुरुष बहिष्कृत है और स्त्री 'शामिल' है। 'स्वानुभूति' और सहानुभूति का युग्म प्रकारान्तर स े 'स्त्री लखे ान' और पुरुष लखे ान का प्रतीकात्मक युग्म गढ़न े के लिए उछाला गया है। स्वानुभूति और सहानुभूति के पीछे नारीवाद राजनीति एवं मुद्दे है ं। स्त्री और पुरुष की दो अलग–अलग दुनिया बताकर और बनाकर रचे जाने वाल े साहित्य स े क्या 'स्नेहमय समज्योति' मिल सकती है। पुरुषों का निर्वासन कर, अथवा स्त्री को निर्वासित कर क्या दुनिया मुकम्मल बन सकती है। आधी–अधरू ी दुनिया ं मे ं रहकर क्या किसी विमर्श का े दिशा मिल सकती है? अथवा बरबारी और मानवीय धरातल पर, नर–नारी के स्नेह और प्रेम की भूमि पर समाज और विमर्श दोनों का े सतं ुलित किया जा सकता है। और जहां संतुलन है वही ं सौन्दर्य है, असंतुलन कुरूपता का प्रतीक है। असंतुलन नई विकृति पैदा करता है। जबकि स्त्री–पुरुष का स्नेहमय सबं ंध बराबरी की नींव पर, मानव सत्ता और कसौटी पर रखकर ही स्त्री विमर्श क े मानवीय बनाया जा सकता है। इसी मानवीय आलोक स े स्त्री लखे ान, स्त्री चरित्र, स्त्री पात्र का े देख जाना चाहिए। एक स्त्री जो कि एक निर्विशेष मनुष्य की तरह है, जा े हाड़–मासं की है, मानवीय सवं ेदन स े भरपूर है, स्त्री की गुलामी–सघं र्ष, स्त्री–मात्र की गुलामी–संघर्ष न होकर मनुष्य–मात्र की गुलामी और सघं र्ष बन जाए। अतएव साहित्य के भीतर स्वानुभूत सत्य और सहानुभूति सत्य स े ऊपर 'मानुष–सत्य' का े रखना और देखना चाहिए। यह विमर्श भी तो इसी कथन, नैतिक समर्थक के आधार पर खड़ा हुआ था कि स्त्री एक मनुष्य है और उसके साथ मनुष्य जैसा व्यवहार होना चाहिए और अधिकार, तथा सम्मान का हक मिलना चाहिए।

स्त्री–पुरुष सबं ंध का े मानवीय भाव की भूमि पर प्रतिष्ठत करने का लाभ यह मिलेगा कि इसस े स्त्री–पुरुष के बीच अन्तः सामाजिक सवं ाद कायम होगा, अन्तः वैयक्ति एक मानवीय सवं ाद कायम होगा, जिससे लोकतंत्र की लघु ईकाई परिवार के भीतर भी एक आन्तरिक लोकतंत्र स्थापित होगा। स्त्री–पुरुष की परस्पर गंथियां खुलेगी और एक स्वस्थ मानवीय सबं ंध कायम होगा जिसमे ं स्त्री के भी निर्णय, सम्मान, इच्छा, अनिच्छा, स्वतंत्रता, अधिकार रखन े का आन्तरिक लाके तांत्रिक पारिवारिक वातावरण निर्मित होगा।

किसी भी व्यवस्था का प्रतिस्थापन एक वैकल्पिक व्यवस्था के माध्यम से किया जा सकता है। किन्तु किसी व्यवस्था के बिना व्यक्ति, समाज, राष्ट्र अथवा किसी सस्ं था का परिचालन असंभव है। अतः व्यवस्था का निषधे ा न करक े व्यवस्था का े स्वस्थ, मानवीय लोकतांत्रिक तथा पारदर्शी बनाकर उस व्यवस्था का े एक मानवीय चहे रा दिया जा सकता है। स्त्री–विमर्श का भारतीय रास्ता इसी दिशा मे ं आगे बढ़कर एक मानवीय समाज के लिए कारगर सिद्ध हो सकता है। अन्यथा दिशाहीनता एवं भटकाव की अनजान एवं आत्मघाती दुनिया मे ं प्रवेश का खतरा बढ़ सकता है। अतएव स्त्री और पुरुष की अलग–अलग दुनिया का े सुन्दर बनाया जा सकता है। एक पुरुष का पति/पुत्र/पिता/दोस्त आदि की भूमिका का स्त्री जीवन मे ं और एक स्त्री का पत्नी/मा/ बहन/बेटी/दोस्त आदि की भूमिका का पुरुष जीवन में, अन्तः सामाजिक–मानवीय सबं ंध स्थापन में एक संपूरक भूमिका होती है। स्त्री और पुरुष दोनों एक–दूसरे के लिए अनिवार्य हैं, अविभाज्य हैं। स्त्री चते ना और पुरुष चते ना को मानवीय चते ना स े जाडे ़कर ही '–सवर ऊपर मानुष सत्य' की प्रतिष्ठा की जा सकती है। यही सिद्धान्त लखे ान क्षेत्र मे ं भी लागू होता है, चित्रा मुद्गल कहती है– "लेखन लखे ान होता है, नर–मादा नही ं। उस े नर–मादा के खांचा े में बाटं कर देखने वाली दृष्टि पूर्वाग्रहग्रस्त है।"

स्वानुभूति और सहानुभूति के सदं र्भ मे ं टी.एस.इलियट का 'रचनाकार और भाक्े ता मे ं अतं र' का सिद्धांत स्त्री रचनाकार और पुरुष रचनाकार, स्त्री भाक्े ता और पुरुष भोक्ता दोनों के लिए ही लागू होता है। रचना–प्रक्रिया मे ं निर्वैयक्ति होकर काव्यगत सत्य और कलागत सत्य की रक्षा की जा सकती है। रचनाकार और भाक्े ता के बीच यदि दूरी न बनाया गया तो जा े कुछ भी लिखा जाएगा उसे रचनाकार का व्यक्तिगत सत्य, निजी सत्य मान लिया जाएगा/जाता है। उसका परिणाम यह होगा कि स्त्री लेखिका पर तुरतं ही उसके चरित्र को लेकर, उसका े लके र चर्चा का बाजार गर्म हो जाएगा, साहित्यिक अखाड़े, बाजियो ं के माहौल मे ं हमल े बाजी का दौर शुरू हो जाता है, "आखिर इन हिसं क धमकियों का, हमलबे ाजी का स्त्री–लेखन पर असर पड़ता ही है।" जबकि कलागत सत्य, निजी सत्य के भिन्न होती है। 'स्वानुभूति' का े स्त्री कलाकार के निजी सत्य स े जाडे ़कर देखने के परिणाम लखे ाक (स्त्री को भी) का े भोगने पड़ेंगे। वास्तव मे ं एक कलाकार रचना प्रक्रिया मे ं स्वानुभूति का े साहित्यानुभूति मे ं गलाकर, रचा–बसाकर, सिरजन करता है। अतएव रचना प्रक्रिया मे ं 'स्वानुभूति' और सहानुभूति के स्थान पर साहित्यानुभूति काव्यानुभूति, नाट्यानुभूति जैस े शब्दो ं का ही प्रयोग सार्थक है चाहे वह पुरुष लखे ाक हो अथवा स्त्री लखे ाक/अपने व्यक्तिगत सत्य का े स्थगित कर, निर्वैयक्तिक होकर भी साहित्यानुभूति का े रचा जा सकता है उसमें स्वानुभूति और सहानुभूति इस कदर घुल–मिल जाता है कि पाठक को यह तय करना मुश्किल हो जाए कि कितनी स्वानुभूति है और कितनी सहानुभूति। वास्तव मे ं स्वानुभूति और सहानुभूति का प्रश्न ही बेमानी है, विमर्शों की राजनीति से प्रेरित है। जा े दलित लखे ाक के लिए दलित होना, स्त्री लखे ान

के लिए स्त्री होन` की शर्त लगता है। मानों लेखन न हुआ बल्कि साहित्यिक वर्णव्यवस्था हो गयी। क्या यह 'एप्रेज' कला की समग्रता का` नष्ट नही ं करता? पुनः रचनाकार और भावे ता के बीच यदि अतं र स्थापित हो गया तो फिर रचनाकार का व्यक्तिगत अनुभूति का प्रश्न गौण हो जाता है, चाहे रचनाकार स्त्री हो या पुरुष। फिर पुरुष स्त्री सबं ंधी साहित्य रचे या स्त्री, स्त्री सबं ंधी साहित्य रचे,उसमे ं निजता, वैयक्तिकता, आत्म–सत्य, आत्मतथ्य के लिए अवकाश कहां? अगर ऐसा नही ं है तो फिर हर रचना मे ं पाठक लखे ाक का निजी सत्य, निजी तथ्य ढूंढकर उसका जीना हराम कर देगा। तो फिर हो गया लखे ान। चाहे वह स्त्री लखे ान हो या पुरुष लखे ान। उसका चरित्र तो

खत्म हा` गया। दूसरी बात यह है कि काइे ͤ भी कलाकार अनुभूति सामर्थ्य के सहारे पर घटित हृदय मे ं प्रवेश कर सत्य को कला के रूप मे ं रचा सकता है। यह काम स्त्री भी कर सकती है और पुरुष भी। अनुभूति सामर्थ्य तो दोनों के पास होता है। सब कुछ अपनी निजी जिन्दगी स` ढूंढकर लाना फिर उस` रचकर स्वानुभूति बताना कला और कलाकार दोनों के लिए जोखिम पैदा करने वाला, आत्मघाती और कलाविवेक स` पैदल व्यक्ति ही कर सकता है, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष। अतएव बात साहित्यानुभूति की होनी चाहिए। जा` संस्थाओं मे ं कैद मनुष्य (स्त्री अथवा पुरुष) का` और सामाजिक राजनीतिक–आर्थिक– पारिवारिक–सासं ्कृतिक परिस्थितियों के सघं ाात स` निर्मित मनुष्य का` उसके अनुभव को, उसकी कसम, उसकी वेदना, उसकी सवं ेदना, उसकी करूणा, उसकी पीड़ा अर्थात कुल मिलाकर उस मनुष्य की आन्तरिकता का साक्षात्कार कराने वाली साहित्यानुभूति पैदा करने वाला साहित्य ही सृजनात्मक साहित्य है। देशकाल निबद्ध प्रतिक्षण सर्जित–विसर्जित सृष्टि मनुष्य की छवि का` पकड़न` का साहित्यिक उपक्रम ही वह साहित्यानुभूति है जा` कला का प्राण होता है। हिन्दी साहित्य ने भारतेन्दु के जमाने स` लेकर आज तक देशकाल स` निर्मित मनुष्य की परिवर्तित छवि का` पकड़न` का साहित्यक प्रयास इसी कला–विवेक और साहित्यानुभूति के माध्यम स` होता रहा है इतिहास के परिवर्तन से हुए व्यक्ति की छवि मे ं सतत परिवर्तन का` साहित्य मे ं कैद करने का निरंतर प्रयास होता रहा है। यही कारण है कि चाहे स्त्री हो या पुरुष हर युग मे ं उसकी छवि, उसकी भूमिका, उसका व्यवहार बदलता रहा है। उसकी कभी काइे ͤ अंतिम छवि, अंतिम भूमिका, अन्तिम आचरण नही ं रहा है क्योंकि

युग परिवर्तन की एक मुद्रा स` युग परिवर्तन की दूसरी मुद्रा तक आते–आते व्यक्ति की छवि और उपलब्ध सत्य बदल जाता है, और फिर स` किसी साहित्यकार का` अपना दूसरा जाल व्यक्ति पर फेंकना पड़ता है। साहित्यानुभूति मनुष्य की सजीवता, मनुष्य की छवि, मनुष्य का मर्म, मनुष्य का सत्य, मनुष्य की अनुभूति का` उपलब्ध करने का साहित्यिक क्रिया–व्यापार है। उसमें स्त्री भी शामिल है, पुरुष भी शामिल है, स्वानुभूति भी उसका हिस्सा है और सहानुभति भी उसका अश ं ा हे किन्तु साहित्यानुभूति सबका अश ं ाी है। मनुष्य का सत्य उसी साहित्यानुभूति की बनावट और बुनावट मे ं निहित है। स्त्री का सत्य इसस` अपवाद नही ं है। आखिर स्त्री एक मनुष्य ही है। है कि नहीं?